जनसत्ता

संकट का जेट

जेट एअरवेज को संकट से निकालने के लिए भारतीय स्टेट बैंक के नेतृत्व वाला बैंकों का समूह अगर मदद का कोई पैकेज देता है तब भी इस बात की उम्मीद बहुत कम है कि कंपनी फिर से खड़ी हो पाएगी। ऐसी फौरी मदद कोई स्थायी समाधान नहीं सुझाती। जेट एअरवेज का यह संकट कोई अचानक नहीं खड़ा हुआ है, पिछले कई महीनों से कंपनी की ऐसी ही डांवाडोल स्थिति बनी हुई है। जेट के संकट की गंभीरता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि शनिवार को प्रधानमंत्री कार्यालय को आपात बैठक बुलानी पड़ गई। कंपनी के ज्यादातर विमान खड़े हैं और घरेलू के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय उड़ानें रद्द हो गई हैं। ऐसे में सबसे ज्यादा मुश्किल में यात्री हैं। हालत यह है कि शनिवार को केवल ग्यारह विमान परिचालन में थे। कंपनी न तो कोई वैकल्पिक सेवा मुहैया करवा रही है, न लोगों के पैसे लौटा रही है। ऐसे यात्रियों की संख्या काफी ज्यादा है, जिन्होंने कंपनी के विशेष पैकेज के तहत कई महीने पहले बुकिंग करा ली थी। लेकिन अब इन लोगों का पैसा नहीं लौटाया जा रहा। टिकट रद्द करने वाले यात्रियों के करीब साढ़े तीन हजार करोड़ रुपए कंपनी को लौटाने हैं। जेट के यात्रियों की मदद के मामले में दूसरी विमानन कंपनियों ने हाथ खड़े कर दिए हैं।

सही मायनों में कहा जाए तो जेट एअरवेज फिलहाल एकदम कंगाली की हालत में है। ताजा हालात बता रहे हैं कि कंपनी के पास तीन-चार दिन के परिचालन के लिए ही पैसा बचा है। ऐसे में कौन मदद के लिए आगे आएगा? जेट का संकट पिछले महीने उस वक्त सार्वजनिक हुआ था जब इसके पायलटों और इंजीनियरों ने वेतन नहीं मिलने के विरोध में हड़ताल की धमकी दे डाली थी। पिछले तीन महीने से पायलटों को वेतन नहीं मिल रहा। अब ज्यादातर पायलट दूसरी विमानन कंपनियों में नौकरी तलाश रहे हैं। हालत यह है कि दूसरी कंपनियां आधे वेतन में काम पर रखने का प्रस्ताव दे रही हैं। जेट एअरवेज पर करीब साढ़े आठ हजार करोड़ रुपए का कर्ज है। कंपनी कई महीनों से नगदी संकट से जूझ रही है। जेट ने जिन कंपनियों से विमान किराए पर लिए हुए हैं उन्हें भी पैसा नहीं चुकाया गया है। इसलिए ज्यादातर विमान खड़े करने पड़ गए। हाल में एम्सटर्डम में जेट के एक विमान को इसलिए रोक लिया गया था कि उसका किराया नहीं चुकाया गया था। ऐसे में कंपनी को किसी भी तरह का पैकेज देना किसी जोखिम से कम नहीं है।

जेट एअरवेज जैसी कंपनियों का संकट हमारे विमानन उद्योग की अदूरदर्शिता और असफलता को बताने के लिए काफी है। भारत की एक भी विमानन कंपनी ऐसी नहीं है जो मुनाफा कमा रही हो, जिसने संकट का रोना नहीं रोया हो, कर्ज के जाल में नहीं फंसी हो। एअर इंडिया जैसी सरकारी कंपनी पचास हजार करोड़ के कर्ज में डूबी है। यह हालत तब है जब भारत में हवाई यात्रा करने वालों की तादाद तेजी से बढ़ रही है, विमानन क्षेत्र को नई उंचाइयां देने के दावे किए जा रहे हैं और भारत के कई शहरों को हवाई मार्ग से जोड़ने की कवायद चल रही है। तब सवाल उठता है कि विमानन कंपनियों पर नजर रखने वाला नियामक आखिर इस संकट को भांप क्यों नहीं पाया! जितना बड़ा सवाल और भारी संकट इन कंपनियों के भीतरी कुप्रबंधन का है, उससे कहीं ज्यादा यह उस तंत्र को भी कठघरे में खड़ा करता है जिसके कंधों पर विमानन क्षेत्र को संचालित करने की जिम्मेदारी है। लगता है हमने विजय माल्या की कंपनी किंगफिशर के प्रकरण से कोई सबक नहीं लिया है।

अभाव की चिकित्सा

किसी भी देश में विकास की कसौटी यह होगी कि वह शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार के मामले में कहां खड़ा है। जहां तक हमारे देश का सवाल है, हम इन तीनों ही क्षेत्रों में अभी बहुत अच्छी स्थिति में होने का दावा नहीं कर सकते। खासतौर पर स्वास्थ्य के क्षेत्र में जो हालत है, उसमें यह कहना मुश्किल है कि देश में बेहतर गुणवत्ता की चिकित्सा सुविधाएं सबके लिए आसानी से उपलब्ध हैं। अगर ताजा तस्वीर यह है कि देश अभी डॉक्टरों और नर्सों की भारी कमी की समस्या से जूझ रहा है, तो अंदाजा लगाया जा सकता है कि यहां की ज्यादातर आबादी सेहत के सामने खड़े किस तरह के संकट का सामना कर रही है। गौरतलब है कि सीडीडीईपी यानी अमेरिका के सेंटर फॉर डिजीज डाइनामिक्स, इकोनॉमिक्स एंड पॉलिसी की एक रिपोर्ट के मुताबिक भारत में मौजूदा समय में छह लाख डॉक्टरों और बीस लाख से ज्यादा नर्सों की कमी है। इस आंकड़े के हिसाब से देखें तो यहां हर दस हजार एक सौ नवासी लोगों पर एक सरकारी डॉक्टर है, जबकि चार सौ तिरासी लोगों पर एक नर्स है। जबकि विश्व स्वास्थ्य संगठन के मानकों के मुताबिक प्रति एक हजार लोगों पर एक डॉक्टर होना चाहिए। सवाल है कि एक स्तरीय वैश्विक पैमाने और भारत की हकीकत में इतना बड़ा फासला क्यों बना हुआ है?

हालांकि चिकित्सकों की भारी कमी के आंकड़े कोई पहली बार सामने नहीं आए हैं, लेकिन शायद इसे कभी गंभीरता से नहीं लिया जाता। यह बेवजह नहीं है कि देश की ज्यादातर आबादी अच्छी चिकित्सा के अभाव से दो-चार है और अपनी आय का एक बड़ा हिस्सा लोगों को अपने इलाज पर खर्च करना पड़ता है। इस समस्या का एक पहलू यह भी है कि देश के बहुत सारे अस्पतालों और सरकारी स्वास्थ्य केंद्रों पर नियुक्ति के बावजूद जरूरतमंद लोगों को उनकी सेवाएं नहीं मिल पाती हैं। ऐसे डॉक्टरों की तादाद बहुत बड़ी है जो किसी अस्पताल या स्वास्थ्य केंद्र पर अपनी ड्यूटी पर मौजूद रहना तो जरूरी नहीं समझते, लेकिन उनकी निजी प्रैक्टिस में कोई बाधा नहीं आती। इस स्थिति की मार दूरदराज के इलाकों में लोगों को झेलनी पड़ती है, जहां अव्वल तो स्वास्थ्य केंद्र या अस्पताल नहीं हैं या फिर जो हैं, वहां भी नियुक्त डॉक्टर आमतौर पर उपलब्ध नहीं होते। ऐसे में ग्रामीण या फिर शहरी इलाकों में भी लोगों को मजबूरन बिना किसी चिकित्सा डिग्री वाले झोलाछाप डॉक्टरों का सहारा लेना पड़ता है। फिर कभी अच्छे इलाज से ठीक हो जाने वाले मरीजों की जान चली जाती है तो कभी साधारण बीमारी भी गंभीर रोग में तब्दील हो जाती है।

यों कहने को सरकारों ने अलग-अलग नामों से स्वास्थ्य के क्षेत्र में सुधार के लिए कई तरह की योजनाएं लागू की हैं। लेकिन अगर प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों से लेकर जिला अस्पतालों तक में जरूरत के वक्त डॉक्टर या नर्स नहीं उपलब्ध होते हैं तो उन योजनाओं का हासिल क्या होगा? इस सबका सीधा असर यह हुआ है कि सार्वजनिक चिकित्सा तंत्र का ढांचा कमजोर पड़ता गया है और इसके बरक्स निजी अस्पतालों का एक बड़ा संजाल खड़ा हो चुका है। एक ओर बुनियादी सुविधाओं तक के अभाव से जूझते सरकारी अस्पताल और स्वास्थ्य केंद्र हैं और दूसरी ओर पांच सितारा सुविधाओं वाले निजी अस्पतालों की खड़ी होती शृंखला। यह किसी से छिपा नहीं है कि निजी अस्पतालों या क्लीनिकों में ऊंचे खर्च की वजह से साधारण लोगों के लिए वहां इलाज कराना संभव नहीं होता। ऐसे में डॉक्टरों और नर्सों की कमी आम आबादी के लिए दोहरी मार साबित होती है। सेहत की कसौटी पर इस अफसोसजनक स्थिति के रहते विकास का कोई भी दावा अधूरा ही कहा जाएगा।

कल्पमेधा

घृणा शैतान का काम है, क्षमा मनुष्य का धर्म है और प्रेम करना देवताओं का गुण है।
-भर्तृहरि

चुनौती देते नक्सली

ब्रह्मदीप अलूने

इस तथ्य को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि नक्सलवाद से निपटने की सरकारी योजनाओं और उनके क्रियान्वयन में गहरा फर्क देखने को मिला। छत्तीसगढ़ में आत्मसमर्पण करने वाले नक्सलियों के लिए पुलिस की पुनर्वास नीति के अंतर्गत वादे तो बेहद लुभावने किए गए, जबकि नीतियों को लागू करने में नाकामी छिपी नहीं है। सरकार आत्मसमर्पण करने वाले नक्सलियों में से दस फीसद को भी अब तक रोजगार देने में नाकाम रही।

नक्सली हिंसा से कई दशक तक जूझने के बाद भी सरकारें नक्सल नीति की दिशा तय करने की चुनौतियों से जूझ रही हैं। यह अभी भी साफ नहीं हो पाया है कि नक्सलवाद की समस्या का समाधान सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रयासों में है या फिर कानून और व्यवस्था से जुड़ा मामला है। नक्सलवाद के अंतर्गत आने वाले लाल गलियारे की हिंसा पिछले पांच दशकों से जारी है। देश के इक्कीस राज्यों के लगभग ढाई सौ जिलों को प्रभावित करने वाला नक्सलियों का यह इलाका आंतरिक सुरक्षा के लिए बड़ी चुनौती बना हुआ है। इन इलाकों में अपहरण, फिरौती, डकैती, बम विस्फोट, निर्ममता से हत्याएं, अवैध वसूली, विकास को बाधित करने की कोशिशें, लोकतांत्रिक सत्ता को उखाड़ फेंकने की इच्छा और समांतर सरकार चलाने की हिमाकतें होती रही हैं।

देश की आंतरिक सुरक्षा के लिए बड़ी चुनौती बने नक्सलियों को राज्य और केंद्र सरकारें अक्सर चुका हुआ घोषित करने की गलती करते रही हैं और हमेशा इसका जवाब बेहद कायराना मिलता रहा है। 25 मई 2013 को जीरम घाटी में हुए नक्सली हमले ने पूरे देश को हिला कर रख दिया था। नक्सलियों ने कांग्रेस नेताओं की परिवर्तन रैली पर आत्मघाती हमला कर दिया था, महेंद्र कर्मा, विद्याचरण शुक्ल, नंद कुमार पटेल जैसे वरिष्ठ नेताओं सहित तीस से ज्यादा कांग्रेसी मारे गए थे। आजाद भारत के इतिहास में नेताओं को निशाना बनाने का यह सबसे वहशियाना कृत्य था। नक्सलियों ने नेताओं को जिस बेरहमी से मारा उससे लोकतंत्र के प्रति उनकी नफरत का पता चलता है। इसके पहले छतीसगढ़ के दंतेवाड़ा जिले में सबसे बड़ा नक्सली हमला 6 अप्रैल 2010 को हुआ था, जिसमें छिहत्तर जवान शहीद हो गए थे। बड़ी संख्या में नक्सलियों ने जवानों को चारों ओर से घेर कर उन पर ताबड़तोड़ गोलियां बरसाई थीं। साल 2009 में कोलकाता से ढाई सौ किलोमीटर दूर लालगढ़ जिले पर नक्सलियों के कब्जे का घटनाक्रम भी हैरान कर देने वाला था। माओवादियों ने इस इलाके को कब्जे में लेकर स्वतंत्र घोषित कर दिया था, जिसके बाद कई महीनों तक संघर्ष चला और आखिरकार सुरक्षा बल इस विद्रोह को दबाने में कामयाब रहे थे।

दरअसल, सामाजिक न्याय की स्थापना के नाम पर अस्तित्व में आई नक्सल विचारधारा अब हिंसा, रक्तपात और वैधानिक सत्ता के खिलाफ काम करने वाला ऐसा संगठन बन गया है जिसमें खूनी विद्रोह को स्वीकार कर लिया गया है। भारत, नेपाल और बांग्लादेश की सीमा पर स्थित नक्सलबाड़ी में भूस्वामियों के खिलाफ संथालों ने तीर कमान लेकर जिस असमानता के खिलाफ हिंसक रुख अपनाया था, उसका बड़ा और हिंसक रूप देश के कई भागों में लगातार देखने को मिलता है। सन 1967 में ही ऑल इंडिया कमेटी ऑन कम्युनिस्ट रिवोल्यूशनरी का गठन किया गया था, जिसमें पश्चिम बंगाल, ओड़िशा आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, केरल और जम्मू-कश्मीर के नेता शामिल हुए थे और उन्होंने संगठन को मजबूत करने, सशस्त्र संघर्ष चलाने और गैर संसदीय मार्ग अपनाने का निर्णय लिया। इससे साफ था कि वंचितों, गरीबों और शोषितों के हितों के नाम पर स्थापित संगठन ने लोकतंत्र की वैधानिक व्यवस्था को चुनौती देते हुए हिंसक और अलोकतांत्रिक रास्ता चुना।

आजादी के बाद जब देश बड़े बदलावों के लिए तैयार हो रहा था और सरकारें भूदान, योजना आयोग, पंचवर्षीय योजनाएं, पंचायती राज और अन्य लोक कल्याणकारी कार्यों से देश का पुनर्निर्माण करने को संकल्पबद्ध थीं, तभी नक्सलवाद का उदय होना शुरू हो चुका था जो हिंसक विचारधारा को पोषित करने वाला था। सन 1969 में माओवादी कम्युनिस्ट सेंटर नामक हिंसक समूह की स्थापना से यह साफ हो गया था कि नक्सलवाद आंतरिक सुरक्षा के लिए बड़ी चुनौती बनता जा रहा है। इसका प्रभाव दक्षिण में भी हुआ और वहां पर भू स्वामियों के विरुद्ध हिंसक आंदोलन के लिए 1980 में पीपुल्स वार ग्रुप (पीडब्लूजी) की स्थापना की गई। इस समय नक्सलवाद का प्रभाव स्थानीय रूप से बढ़ रहा था और उसमें मजदूर और गरीब लोगों को शामिल करने के प्रयास किए जा रहे थे। यह भारत के लिए राजनीतिक तौर पर अस्थिरता और क्षेत्रीय दलों के उभार का भी समय था। इस समय माकपा भी अस्तित्व में आ चुकी थी जो लोकतंत्र में भी अपनी भागीदारी सुनिश्चित करना चाहती थी। 1977 के बाद भाकपा ने माकपा और दूसरी छोटी कम्युनिस्ट पार्टियों के साथ मिल कर वाम मोर्चे का गठन किया। व्यावहारिक तौर पर केरल सहित अधिकांश जगहों पर यह पार्टी माकपा के एक छोटे सहयोगी दल में बदल गई। पश्चिम बंगाल और केरल जैसे राज्यों में वाम दल सत्ता में आए भी।

नक्सलवाद की हिंसक विचारधारा को भी राजनीतिक कारणों से स्थानीय समर्थन मिलने से यह समस्या बढ़ती गई। नक्सलियों ने पुलिस और अर्धसैनिक बलों को निशाना बना कर नब्बे के दशक में इसे देश की बड़ी आंतरिक चुनौती बना दिया। नक्सलियों ने बुनियादी रूप से पिछड़े हुए सुदूरवर्ती और भौगोलिक रूप से कटे इलाकों पर अपना प्रभाव कायम किया।

भारत सरकार ने स्थिति की गंभीरता को समझते हुए इससे निपटने के लिए 'ग्रे हाउंड्स' और 'कोबरा' जैसे बल तैयार किए। नक्सलियों के सफाए के लिए ऑपरेशन ग्रीन हंट चलाया गया। यूपीए शासनकाल में नक्सलियों पर त्वरित कार्रवाई और समेकित कार्रवाई योजना जैसी रणनीतियां बनाई गईं। बाद में नक्सल विरोधी अभियान और नक्सल प्रभावित इलाकों के लिए संचार माध्यमों को विकसित करने और आत्मसमर्पण करने वाले माओवादियों को भत्ते देने के लिए सुरक्षा संबंधी खर्च की योजना बनाई गई। इस योजना के तहत यह भत्ता केंद्र सरकार राज्यों को देती है। इसके तहत नक्सल प्रभावित इलाकों में तैनात सुरक्षा बलों और थानों के लिए भी धन का आबंटन किया जाता है।

नक्सली हमलों की कड़ी चुनौती के बीच आठ मई 2017 को माओवादी हिंसा से प्रभावित दस राज्यों में एकीकृत कमान के गठन की पहल करते हुए सभी राज्यों की साझा रणनीति बना कर एक आठ सूत्रीय समाधान तैयार किया गया। इसके अंतर्गत कुशल नेतृत्व, आक्रामक रणनीति, प्रशिक्षण, कारगर खुफिया तंत्र, कार्ययोजना के मानक, कारगर प्रौद्योगिकी, प्रत्येक रणनीति की कार्ययोजना और वामपंथी उग्रवाद के वित्त पोषण को विफल करने की रणनीति को शामिल करने की जरूरत बताई। इस तथ्य को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि नक्सलवाद से निपटने की सरकारी योजनाओं और उनके क्रियान्वयन में गहरा फर्क देखने को मिला। छत्तीसगढ़ में आत्मसमर्पण करने वाले नक्सलियों के लिए पुलिस की पुनर्वास नीति के अंतर्गत वादे तो बेहद लुभावने किए गए, जबकि नीतियों को लागू करने में नाकामी छिपी नहीं है। सरकार आत्मसमर्पण करने वाले नक्सलियों में से दस फीसद को भी अब तक रोजगार देने में नाकाम रही।

नक्सलवाद की समाप्ति के लिए केंद्र और राज्य विकास को अपना ध्येय बनाने का दावा करते हैं, प्रभावित इलाकों को भारी भरकम मदद भी दी जाती रही है, लेकिन जमीनी हालात में कोई बदलाव नजर नहीं आता। बस्तर के कई इलाके आज भी बिजली, पानी और सड़क के महरूम हैं और स्वास्थ्य सेवाओं को लेकर ग्रामीणों की निर्भरता नक्सलियों पर बनी रहती है। यह भी बेहद दिलचस्प है कि माओवादी हिंसा से प्रभावित राज्यों में पुलिस बलों के आधुनिकीकरण के लिए केंद्र सरकार ने पिछले चार सालों में सबसे अधिक बजट का आबंटन उत्तर प्रदेश को किया है, छत्तीसगढ़ को इसके मुकाबले छह गुना कम बजट का आबंटन चौंकाने वाला है।

इस समय देश के साठ फीसद राज्य नक्सलवाद से प्रभावित हैं। इन राज्यों में कहीं नक्सली हमलों की तीव्रता ज्यादा है तो कहीं पर कम। नक्सलियों के लिए पिछड़े इलाके मुफीद माने जाते हैं, इसलिए सरकार को पिछड़े क्षेत्रों में विकास और आदिवासियों के बीच विश्वास बहाली के उपाय करने की जरूरत है। साथ ही प्रभावित इलाकों में उचित आबंटन, सेना का आधुनिकीकरण और हथियार डालने वालों का पुनर्वास जैसी नीतियों पर लगातार काम कर नए नक्सलियों की नई पौध को रोका जा सकता है।

अदृश्य दीवारें

राय बहादुर सिंह

दूर तक फैले खेतों में मेरे स्कूल आने के साथ ही मक्के की फसल बोई गई थी। स्कूल की खिड़की के बाहर खेतों में लहलहाते कुछेक मक्के के पौधों के आकार को देख कर ऐसा भ्रम हो रहा था कि मक्के की फसल बहुत अच्छी होगी। हवा में लहराती उनकी लंबी और चौड़ी पत्तियां बहुत प्यारी लग रही थीं। जाने क्यों मैं इस पसोपेश में आ घिरा कि कद और आकार में छोटी रह गईं बाकी फसलों की ओर मेरा ध्यान क्यों नहीं गया! यह एक सामान्य-सी प्रवृत्ति है या इसका कोई विशेष कारण है? मैं मनुष्य के उस गुण के बारे में जानना चाहता हूं, जिसके कारण हमें सीधे लंबे खड़े बांस के झुरमुटों को देख कर आनंद की अनुभूति होती है, लेकिन झुरमुट से जमीन को छूते बांस को देख कर हीन भाव मन में आते हैं। गांव भर में कच्चे घरों के बीच प्रधान का पक्का मकान हमें क्यों अच्छा लगने लगता है! क्यों हमारे समाज में हर काम को करने में महारत रखने वाले ही अच्छे लगते हैं? मुझे यह भी जानना है कि एक विद्यालय में पढ़ने वाले अलग-अलग मिजाज के बच्चों में हमें शांत और आज्ञा का पालन करने वाला बच्चा ही सबसे लायक और होनहार क्यों लगने लगता है! कुछ खास मिजाज के बच्चे शैतान और बदमाश क्यों हो जाते हैं? हम गौर कर सकते हैं कि कक्षा के दौरान पढ़ाई से इतर अपनी पसंद का काम करते हुए बच्चे को किन-किन उपाधियों से सम्मानित किया जाता है।

मेरा यह मानना कि सभी समझदार और जिम्मेदार अभिभावकों और शिक्षकों ने बच्चों को अच्छे और बुरे के खेल में फंसा कर अपनी तमाम जिम्मेदारियों से पल्ला झाड़ लिया है, ताकि उन्हें बच्चों की समस्या को सुलझाने में खुद दिमागी मशक्कत नहीं करनी पड़े। सभी सजा देने की जल्दी में हैं। इस जल्दबाजी के कारण ही हमने बच्चों को दो वर्गों में बांटा है। अच्छे और बुरे में। सिगमंड फ्रॉयड के अनुसार, मनुष्य जो कुछ भी करता है, उसके मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं। सवाल यह है कि बदमाश, उद्दंड, ढीठ, शैतान जैसे शब्दों का बच्चों की प्रवृत्तियों को चिह्नित करने के लिए बड़ों द्वारा गढ़े गए शब्दों का मनोवैज्ञानिक आधार क्या है? ये शब्द समाज में किन रूपों में रूढ़ हैं, यह हम सब जानते हैं। समाजीकरण करने में हमारे स्कूलों का विशेष महत्त्व होता है। हम वहीं से नालायक-होनहार, शरीफ-बदमाश, शैतान, ढीठ, उद्दंड जैसे शब्दों को लेकर समाज में आते हैं।

दुनिया मेरे आगे

जब मैं शिक्षण अभ्यास के लिए पहली बार स्कूल गया तो पाया कि स्कूल की हर कक्षा में बच्चों का उनके व्यक्तित्व के आधार पर वर्गीकरण किया जा चुका था। शुरुआत में मुझे उन्हें समझने और अपनी बात समझाने में खासी मेहनत करनी पड़ती थी, पर मजाल थी जो उनके कानों पर जूं रेंग जाए। कभी कोई किसी की किताब फाड़ देता तो कोई किसी के घाव दुखा देता। ब्लैक बोर्ड पर लिखते-लिखते शोर सुन कर पीछे देखता तो दोनों वर्ग आपस में गुंथे नजर आते। धीरे-धीरे उनका व्यक्तित्व मेरी नजर में रूढ़ हो रहा था। मैं उनके लिए जाने कब नालायक जैसे शब्द का प्रयोग कर बैठा, पता ही नहीं चला। इसका एहसास हुआ तो मैं सकते में आ गया। गहरे विचार के बाद मैंने पाया कि मैं भी उसी ढर्रे पर चलने वाला नवाचारी हूं, जो अपनी सुविधा अनुसार अच्छे और बुरे के दृष्टिकोण से ग्रसित चश्मा चढ़ा कर दुनिया को बदलने चल पड़े हैं। अपनी गलती का एहसास होने के बाद मैं स्कूल के सभी बच्चों को एक ही नजर से देखने लगा और सभी बच्चों को एक ही समान मानना शुरू कर दिया। अब मेरे लिए वे सभी बस बच्चे थे। इसके बाद मैं उनके बीच लड़ाई-झगड़े को छुड़ा तो देता था, पर स्कूल के साथी शिक्षकों को झगड़े के बारे में नहीं बताता। उन्हें पढ़ाने की कोशिश न करके उनसे पूछना शुरू कर दिया कि आज क्या पढ़ना चाहते हो!

वे अक्सर पाठ को पढ़ने से मना करते और चित्रकारी करने या खो-खो खेलने की इच्छा जाहिर करते। एक दिन उन्होंने फिल्म दिखाने की बात कह दी। मैंने उन्हें टालने के बजाय '101 डलमेशियन डॉग' नामक एक कार्टून फिल्म मोबाइल फोन पर दिखाने लगा। थोड़ा-थोड़ा करके यह फिल्म लगभग डेढ़ सप्ताह चली। इस बीच मेरी और कक्षा के बच्चों की दोस्ती हो गई। फिल्म खत्म होने के साथ ही आने वाले दिनों में बच्चों का व्यवहार मेरे साथ बदलता चला गया। मैं उन्हें पढ़ाने के लिए डंडे का प्रयोग नहीं करता था। मैं बच्चों को साथी शिक्षकों और मेरे बीच तुलनात्मक अध्ययन करने का मौका देता रहता, जिसके कारण वे मेरे और भी करीब आते गए। मुझे पता ही नहीं चला कि कब वे मुझे 'सर' कहने की जगह 'ये मेरे दोस्त हैं' कहने लगे। मेरी कक्षा के अलावा दूसरी कक्षा के वे बच्चे भी पढ़ाने के लिए बुलाने आने लगे, जिन्हें समूचा स्कूल बदमाश बच्चे के रूप में जानता था। इसके बाद कुछ बच्चों ने मुझे स्थायी रूप से वहीं नौकरी करके रह जाने के लिए कहा। उनकी बातें सुन कर मैं कई दिनों तक सोचता रहा कि शिक्षक की आंखों पर चढ़ा अच्छे और बुरे का चश्मा विद्यार्थी और शिक्षा के बीच एक न दिखने वाली दीवार खड़ी कर देता है।

जमीनी हकीकत

इन दिनों देश में कांग्रेस द्वारा घोषित न्यूनतम आय योजना की चर्चा जोरों पर है। कांग्रेस अध्यक्ष ने कहा है कि अगर उनकी पार्टी केंद्र की सत्ता में आती है तो महीने में 12000 रुपए से कम आय वाले परिवारों को सालाना 72 हजार रुपए यानी हर महीने छह हजार रुपए तक की आर्थिक मदद दी जाएगी। चुनावी दिनों में राजनीतिक पार्टियां नई-नई लोकलुभावन योजनाएं लाती हैं। ये योजनाएं कितनी व्यावहारिक हैं इसकी जांच मतदाताओं को अवश्य करनी चाहिए। हमारे देश में लकड़वाला समिति से लेकर रंगराजन समिति तक ने गरीबी रेखा तय करने के लिए अपनी-अपनी सिफारिशें दी थीं।

रंगराजन समिति के हिसाब से भारत में 29.5 प्रतिशत लोग गरीब हैं यानी हर दस लोगों में से तीन गरीब हैं। ऐसा व्यक्ति, जो गांवों में रहता है और उसकी प्रतिदिन आय 32 रुपए से कम है उसे गरीब माना गया है। वहीं शहरों में 47 रुपए प्रतिदिन आय वाले को गरीब कहा गया है। लेकिन यह पैमाना अवास्तविक और अव्यावहारिक है क्योंकि एक मजदूर की मजदूरी 300 से 350 रुपए रोज है तो उस हिसाब से वह गरीब की श्रेणी में नहीं आता। जब तक सरकार गरीबी मापने की कोई ठोस विधि नहीं बनाएगी तब तक न्यूनतम आय योजना सही मायने में अमल में नहीं लाई जा सकती है। ऐसा इसलिए कि कई लोग फर्जी तरीके से अपनी मासिक आय 12000 रुपए से कम दिखा सकते हैं और इस योजना का लाभ भविष्य में अवैध तरीके से ले सकते हैं। जमीनी हकीकत यही है कि हमारे देश में योजनाओं का लाभ जरूरतमदों तक पहुंचता ही नहीं है।

न्यूनतम आय योजना पर जोर देने के बजाय कोई अच्छी कौशल योजना लाने पर बल देना चाहिए ताकि लोगों के भीतर कौशल के साथ-साथ आत्मविश्वास का संचार हो और वे अपने परिश्रम से हुई आय से आत्मसम्मान भरी जिंदगी जिएं। लोकलुभावन योजनाओं पर खर्च से वित्तीय संकट गहराता है जिससे सरकार को कर बढ़ाने पड़ते हैं। इन करों का बोझ मध्यवर्ग पर पड़ता है जिससे उसकी जिंदगी और भी कठिन हो जाती है।

● *निशांत महेश त्रिपाठी, कोंढाली, महाराष्ट्र*

प्रेय को श्रेय

इस बार भारतीय प्रशासनिक सेवा परीक्षा में शीर्ष स्थान प्राप्त करने वाले कनिष्क कटारिया ने अपनी प्रेमिका को भी इस सफलता का श्रेय दिया है। इस पर कुछ लोग नाहक नाक-भौं सिकोड़ रहे हैं जबकि कनिष्क की यह साफगोई और ईमानदारी हर लिहाज से सराहना के काबिल है। अगर कोई अपने रिश्ते के प्रति गंभीर है तो रिश्ते को सात तालों में छुपाने की जरूरत ही क्या है! रिलेशनशिप में होने से खूबसूरत भला और क्या होगा!

जो अपने लक्ष्य के प्रति दृढ़ संकल्प होते हैं वे मोहब्बत में होने से भटकते नहीं यह कनिष्क ने साबित किया है। जो कुछ परिवार के साथ नहीं बांटा जा सकता वह बेझिझक अपने दोस्त से कह कर तनाव मुक्त भी तो हुआ जा सकता है। बिल्कुल सही किया कनिष्क तुमने जो अपनी दोस्त को भी सफलता का श्रेय दिया। तुम दोनों की आपसी समझ और एक-दूसरे के लिए समर्पण युवा वर्ग के लिए नजीर बनेंगे! भारतीय समाज को स्त्री-पुरुष मैत्री के प्रति अपना पुरातन नजरिया बदल देना चाहिए।

● *सुमित्रा महरोल, श्यामलाल कॉलेज, दिल्ली*

अधिकार और कर्तव्य

सत्रहवीं लोकसभा के लिए देश में लोकतांत्रिक पर्व के आगाज के बाद पहले चरण का मतदान हो गया है। इसके दौरान कुछ राज्यों से तो अच्छी खबरें आईं लेकिन कुछ राज्यों से लोकतंत्र के लिहाज से प्रतिकूल और चिंताजनक खबरें मिलीं। पहले चरण में मणिपुर में सबसे अधिक 78 तो अरुणाचल और बिहार में सबसे कम तकरीबन 50 प्रतिशत ही मतदान हुआ। नब्बे करोड़ मतदाताओं के बावजूद यदि यही स्थिति रही तो हमारे लोकतंत्र में बाहुबलियों-धनपतियों का ही दबदबा रहेगा और मतदान न करने वाले लोग बेबसी एवं लाचारी का रोना रोते रहेंगे! इसलिए मतदान करना अधिकार के साथ-साथ स्वस्थ एवं मजबूत लोकतांत्रिक राष्ट्र के लिए एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य भी है।

● *समरथ पाटीदार, रतलाम, मध्यप्रदेश*

ईवीएम के बहाने

चुनाव आते ही ईवीएम पर अंतहीन तकरार शुरू हो चुकी है जो चुनाव नतीजे आने के बाद पूरे उबाल पर रहेगी। जो भी विपक्षी पार्टी हारेगी वह अपनी हार का ठीकरा ईवीएम पर फोड़ेगी। यह सब तो तब है जबकि प्रत्याशी और पार्टियां ईवीएम से चुनाव कराए जाने पर सहमति दे चुकी हैं। अनेक अवसरों पर भारतीय निर्वाचन आयोग ने गड़बड़ियों के सबूत और ईवीएम 'हैक' किए जाने की प्रक्रिया प्रस्तुत करने की चुनौती दी है लेकिन मजे की बात है कि आरोप लगाने वाला कोई भी योद्धा इसे स्वीकार नहीं कर सका है।

ऐसा नहीं है कि मतदान में गड़बड़ी के आरोप ईवीएम आने के बाद ही लगे हैं। मतपत्र से चुनाव होने पर भी हमेशा चुनावी धांधलियों के आरोप सत्ताधारी दल पर लगते रहे हैं। यानी हार जाने पर अपनी खीज मिटाने के लिए खिसियानी बिल्ली की तरह खंभा नोचने की बजाए ईवीएम को कोसने की प्रवृत्ति स्थायी रूप ले चुकी है। खाने के लिए दोनों हाथों में रखे लड्डू विपरीत समय आने पर वार साधने के काम आते हैं। निर्वाचन आयोग और सर्वोच्च न्यायालय तक ने कह रखा है कि ईवीएम से बेहतर अन्य कोई चुनावी प्रक्रिया नहीं, तब भी जनता को बरगलाने-फुसलाने वाले तत्त्व अनावश्यक विवाद खड़ा करने से परहेज नहीं कर रहे। अगर इन्हें ईवीएम पर विश्वास नहीं है तो नामांकन भरते समय इस पर सहमति प्रकट क्यों करते हैं?

गौरतलब है कि भारत में जितने चुनाव-सुधार हुए हैं, अन्यत्र कहीं भी नहीं हुए। पूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त टीएन शेषन ने अपने कार्यकाल में विभिन्न चरणों में चुनाव करा कर बूथ कैप्चरिंग, मतपेटियों की खुलेआम लूट और चुनावी हिंसा पर लगाम लगाई थी। तब भी अनेक दलों और नेताओं के पेट में मरोड़ उठी थी। अब ईवीएम के जरिए पारदर्शी व निष्पक्ष चुनाव हो रहे हैं तो इसका स्वागत होना चाहिए और विभिन्न दलों को इसमें रचनात्मक सहयोग देना चाहिए।

● *सतप्रकाश सनोठिया, रोहिणी, नई दिल्ली*

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com